प्रसंग

शिक्षा में मूल्यों की प्रतिष्ठा के निहितार्थ

❑ सुरेश पंडित

शिक्षा और मूल्यों के संबंध की बहस हालांकि काफी पुरानी है लेकिन यदि हम मूल्यों को समाज सापेक्ष मानते हैं और समाज को परिवर्तनशील तो इस संबंध की प्रकृति और उसके स्वरूप पर बार-बार बात करनी पड़ेगी । इधर पाठ्यक्रम में मूल्यों के समावेश की बात जोर-शोर से उठायी जा रही है और यह प्रक्रिया कमोबेश शुरू भी हो गयी है । 'शिक्षा-विमर्श' ने शिक्षा में मूल्यों के प्रश्न को पहले उठाया है । उसी क्रम में प्रस्तुत लेख मूल्यों के प्रश्न को शिक्षा-प्रणाली के यथास्थितिवाद बनाम शिक्षा में आमूल-चूल परिवर्तन के द्वन्द्व में उठाता है ।

उच्चतर अथवा माध्यमिक स्तरीय शिक्षा में मूल्यों के संकट और उनके पुन: प्रत्यारोपण के संबंध में विचार करने से पहले हमें शिक्षा से जोड़ दिये गये कतिपय मिथकों, भ्रामक तथ्यों की सही जानकारी पा लेना और उनके बारे में समझ को साफ कर लेना जरूरी है क्योंकि दृष्टिदोषों को सुधारे बिना न तो हम सार्थक बहस कर सकते हैं और न ही किसी ठोस निष्कर्ष तक पहुंच सकते हैं। शिक्षा के साथ उच्चतर या निम्नतर जैसे विशेषणों के प्रयोग अंग्रेजी के हायर या लोअर एज्यूकेशन सरीखे शब्द युग्मों के अन्धानुवाद के फलस्वरूप हिन्दी में प्रचलित हुए हैं । हमारी शिक्षा के प्राचीन इतिहास अथवा शिक्षाशास्त्र में कहीं इस तरह के विशेषण देखने को नहीं मिलते । न ही आज भी हम किसी कम या अधिक पढ़े-लिखे व्यक्ति को अधोशिक्षित या अतिशिक्षित कहते हैं ।

शिक्षा से अभिप्राय है सीखना। यह सीखना कौशल का भी हो सकता है । कौशल या ज्ञान प्राप्ति की मात्रात्मक उपलब्धियां तो हो सकती हैं, इनका विखंडन नहीं हो सकता । दरअसल यह विखंडन पश्चिम की देन है जिसने परमाणु से लेकर शिक्षा एवं ज्ञान तक को विखंडित कर दिया है और अब तो उतर आधुनिकतावाद का पूरा दर्शन ही विखंडन पर खडा कर दिया गया है । ज्ञान को पहले विज्ञान, वाणिज्य और मानविकी में बांटा गया । फिर इनके भी टुकडे दर टुकडे कर दिये गये । परिणाम यह हुआ कि कोई दिल की बीमारियों का विशेषज्ञ बना तो कोई दिमाग की । किसी ने अर्थशास्त्र में महारत हासिल की तो किसी ने लेखा शास्त्र में । पर ज्ञान का यह विखंडन मनुष्य की बढ़ती ज्ञान पिपासा को छोटे छोटे वृत्तों में बांध नहीं पाया और पहुंचे हुए दार्शनिक वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री या शिक्षाविद न पहले विषय विशेषज्ञ बने रहे न आजकल बने रहते हैं । बर्ट्रेन्ड रसल हों या सी. वी. रमन या फिर पाउलो फ्रेरे अथवा अमर्त्यसेन ही क्यों न हों, क्या कोई कह सकता है कि उनकी गति मात्र दर्शन, विज्ञान, शिक्षा या अर्थशास्त्र तक ही सीमित रही है?

इसलिये हम विशेषण विहीन समग्र शिक्षा में मूल्यों की पुन: प्रतिष्ठा पर चर्चा करें तो अधिक उपयुक्त रहेगा । लेकिन यहां फिर हमारे सामने यह दुविधा उपस्थित होती है कि हम शिक्षा में मूल्यों को लाना चाहते हैं या मूल्यों के आधार पर शिक्षा को निर्मित करना चाहते हैं । दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि शिक्षा में मूल्यों को लाने का तात्पर्य है वर्तमान शिक्षा व्यवस्था को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हुए उसमें कतिपय मूल्यों को गुंफित करने हेतु प्रयास करना जबकि मूल्याधारित शिक्षा के निर्माण का औचित्य तभी हो सकता है जब हम वर्तमान शिक्षा पद्धति को पूरी तरह नकारते हुए अपनी कोई मौलिक शिक्षा विधि का निर्माण करें । दरअसल जिन लोगों द्वारा आजकल मूल्यों की शिक्षा देने और शिक्षार्थियों को अधिक सुसंस्कारित बनाने की मांग जोरशोर से उठायी जा रही है, वे जाहिर है शिक्षा की वर्तमान प्रणाली से तो सहमत हैं केवल इसमें कतिपय मूल्यों की शिक्षा को और जोड़ देना चाहते हैं । ये वे लोग हैं जो वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था से लाभान्वित हो रहे हैं या होना चाहते हैं। लेकिन जिन्हें युवा पीढ़ी की बढ रही उच्छृंखलता, व्यसन ग्रस्तता, हिंसा और कामांधता सदैव आतंकित करती रहती है। आश्चर्य है इस समूह में, जो देश की सारी आबादी के एक तिहाई लोगों से बना है, विभिन्न संप्रदायों के वे धर्माधिकारी, राजनेता, नौकरशाह और कुलीन उच्च तथा उच्च मध्यम वर्ग के घटक शामिल हैं जिनसे भारतीय समाज को नेतृत्व प्रदान करने की और आर्थिक रूप से अपेक्षाकृत पिछडे लोगों के हितों की रक्षा करने की अपेक्षा थी । इस समूह के प्रतिनिधि विचारक, अर्थशास्त्री, समाज वैज्ञानिक और शिक्षा विशेषज्ञ उस विशाल वंचित जनसंख्या के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने और संपूर्ण देश व समाज को ऐसी शिक्षा देने की बजाय, जिससे वर्ण, वर्ग, लिंग और संप्रदाय के भेद को न्यूनतम किया जा सके, न केवल शिक्षा में यथास्थिति को बनाये रखने की वकालत कर रहे हैं बल्कि अहिंसा, संयम, अपरिग्रह, सादा जीवन, पर्यावरण सुरक्षा और श्रम का सम्मान जैसे मूल्यों को पाठ्यक्रम का

अनिवार्य अंग बनाकर युवा पीढ़ी को वर्तमान बाजारवादी व्यवस्था के लिए बिल्कुल अनुपयोगी बना देने की कोशिश भी कर रहे हैं । मानव संसाधन विकास मंत्रालय के निर्देशानुसार विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद ने इस तरह के मूल्यों को विभिन्न स्तरों के पाठ्यक्रमों में जोड़ देने की कवायद बाकायदा शुरू कर भी दी है ।

इस तरह पाठ्यवस्तु में जहां तहां हेरफेर करने और युवा पीढ़ी में बढ़ रही अराजकता का औपचारिक निदान करने के लिए ये कतिपय मूल्यों की शिक्षा का प्रावधान जाहिर है शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन करने, उसे मूल्य-आधारित बनाने तथा शिक्षार्थी के व्यक्तिगत विकास के साथ उसे जीवनोपयोगी बनाने की व्यापक मांग को ठण्डे बस्ते में डाल देने के छलावे के अलावा कुछ नहीं है । सुप्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री अनिल सद्गोपाल जोर देकर बार बार यह कहते हैं कि शिक्षा में जब-जब भी बदलाव या रूपान्तरण होते हैं समाज के उन अल्पसंख्यक लोगों के हितों को ध्यान में रखकर होते हैं जिनका देश की राजनीति, अर्थ व्यवस्था और सत्ता में वर्चस्व होता है । ये लोग जहां एक ओर वर्तमान शिक्षा पद्धति की कमजोरियों को पहचान कर उन्हें दूर करने की बात करते हैं वहीं पूर्व प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा के उद्देश्यों और पाठ्यवस्तु को इस प्रकार बदल देना चाहते हैं जिससे शिक्षार्थी में मूल्यों का विकास हो सके। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं - (1) यदि मूल्यों से संबंधित पाठ्यवस्तु वर्तमान पाठ्यचर्या (करीकूलम) में जोड़ दी जाये तो यह शिक्षा व्यवस्था ठीक हो जायेगी । (2) प्रचलित शिक्षा प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन की जरूरत नहीं है, कुछ संशोधनों और परिवर्तनों से इसे अपनी इच्छा के अनुरूप बनाया जा सकता है।

परन्तु इस यथास्थिति की स्वीकृति से अनायास हम एक ऐसे दुष्चक्र में फँस जाते हैं जो हमारी संस्कृति, सभ्यता, पारंपरिक समाज व्यवस्था, आचार संहिता और प्रकृति से हमारे सौहार्द पूर्ण रिश्तों को विकृत करने के लिए जिम्मेदार है । जी हां, मेरा मतलब विकास के उस पश्चिमी मॉडल से ही है जो आज वैश्विक अर्थ व्यवस्था के नाम पर उस बाजारवाद और उपभोक्ता संस्कृति को बढ़ावा दे रहा है जिसमें भौतिक साधनों का अधिकाधिक संचय व उपभोग मनुष्य के जीवन का पहला और अन्तिम लक्ष्य बना दिया गया है । यह वही विकास है जिसकी परिकल्पना सदियों पहले करते हुए डार्विन ने सबसे समर्थ व्यक्ति के ही अस्तित्व में रहने की बात कही थी । आज जिस तरह की गलाकाट प्रतियोगिता बाजार में चल रही है उसमें जाहिर है, समर्थ वही है जिसके पास पूंजी है और जिसके पास जितनी अधिक पूंजी है उसे सरकार से, प्रशासन से और न्याय व्यवस्था से बिना डरे कुछ भी करने का अधिकार प्राप्त है अर्थात जीवित रहने की जितनी सुविधाएं पूंजी के मालिकों के लिए बढ़ रही हैं उतनी ही गरीबों के लिए कम हो रही हैं ।

ऐसे माहौल में श्रम का सम्मान, सादा जीवन पद्धति की प्रतिष्ठा, पर्यावरण संरक्षण की आचार संहिता, शान्ति और अहिंसा की संस्कृति और तनाव से मुक्ति की तकनीक जैसे मूल्यों को शिक्षा के माध्यम से समाज में पुन: स्थापित करने की चेष्टा निश्चय ही धारा के प्रतिकूल चलने का एक खास ख्याली उपक्रम है । क्योंकि शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था को, जो निश्चय ही बाजार की मांगों की पूर्ति के लिए मनुष्य को गढ़ने में लगी है, बिना बदले क्या हम अपने उन मूल्यों को प्रतिष्ठित कर सकते हैं जो इसे किसी भी हालत में रास नहीं आते । जैसे सादा जीवन पद्धति की प्रतिष्ठा वाले मूल्य को ही ले लें, यह कम से कम उपभोग के लिए मनुष्य को तैयार रहने की बात कहता है जबकि प्रचलित विकास का सिद्धांत अधिक इच्छा, अधिक आवश्यकता एवं अधिक उपभोग पर जोर देता है। इसी तरह तनाव से मुक्ति की बात को लें, जहां जीवित रहने के लिये किये जाने वाले संघर्ष को इतना तीखा और स्पर्धा को इतना तेज व हिंसक बना दिया जाये, वहां नशीली दवाओं या योगिक क्रियाओं से अल्पकालिक राहत तो मिल सकती है स्थायी शान्ति मिलना बहुत मुश्किल है ।

इसलिये वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में कुछ संशोधन, संवर्धन कर कुछ मूल्यों को टांक देने से कतई काम चलने वाला नहीं है । इसकी बजाय अच्छा यह होगा कि हम ऐसे मूल्यों पर आधारित अपनी शिक्षा पद्धति का निर्माण करें जो मनुष्य को न केवल आध्यात्मिक, मानसिक व शारीरिक रूप से उदात्त बनाये बल्कि पश्चिमी विकास की उस अवधारणा पर मरणान्तक प्रहार भी करे जो बाजारी शक्तियों के सामने मनुष्य को आत्मसमर्पण कर देने के लिए विवश करती है । कहना न होगा कि इसके लिए बहुत बडी संकल्पित मानव श्रृंखला की आवश्यकता होगी । परन्तु असीम पीडाजनक स्थिति यह है कि इतने अहम मुद्दे को लेकर न देश की जनता चिन्तित है और न हमारी सरकार। कोई राजनैतिक दल या धर्माधिकारी भी इसे केन्द्र में रखकर कोई आन्दोलन करने की बात नहीं कर रहा है। ग्राम पंचायत के पंच से लकर महामहिम राष्ट्रपति तक इस शिक्षा व्यवस्था को कोसने में कभी पीछे नहीं रहते लेकिन जब इसमें बदलाव की बात आती है तो थोडे बहुत हेरफेर और जहां तहां मूल्यों को जोड़ देने के अलावा उनके पास कहने को अधिक कुछ नहीं होता। सचाई यह भी है कि यदि कोई संगठन शिक्षा के पुनर्निमाण के प्रश्न को लेकर कोई आन्दोलन शुरू करता है तो देश की 80 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या उसका साथ दे सकती है क्योंकि इस वैश्विक अर्थव्यवस्था से फायदा उठाने वाले लोगों की संख्या 20 प्रतिशत से अधिक नहीं है, बाकी सब इससे पीडित ही हैं और उनके पास खोने के लिए कुछ भी नहीं है ।

कुछ लोगों का तर्क यह भी है कि यदि इतना विशाल व व्यापक अभियान छेड़ने की स्थिति में हम न हों तो कुछ भी न करने अथवा गलत काम होते देखते रहने से अच्छा यह है कि कुछ न कुछ अथवा जितना संभव है उतना तो हमें करना ही चाहये । उनकी मान्यता है कि जब वातावरण में हिंसा, वासना, अनाचार और उत्पीड़न बढ़ता है तभी अहिंसा, संयम, नैतिकता और परदुख कातरता की आवश्यकता अधिक होती है । इसलिए शिक्षा में बढ़ती अनुशासनहीनता और घटती गुणवत्ता के दौर में ही मूल्यों का अधिकाधिक उपयोगी हो जाना सहज स्वाभाविक है ।

वे यह बात भी जोर देकर कहते हैं कि इन मूल्यों के व्यक्ति में पनपने से न केवल उस व्यक्ति में ही सुधारात्मक परिवर्तन आयेगा बल्कि उसके परिवार के सुधार सदस्य-बंधु बान्धव एवं मित्र मण्डल भी प्रभावित होंगे । देश और समाज को सुधारने का एक तरीका व्यक्ति के सुधार से ही शुरू होता है। यह व्यक्तिवादी अवधारणा जो प्राय: धर्मगुरूओं द्वारा प्रचारित की जा रही है दरअसल एक ऐसे दिवास्वप्न की सृष्टि करती है जिसका धरातल निहायत खोखला है। व्यक्ति व्यक्ति के सुधार से समाज के सुधर जाने की प्रत्याशा आकाश कुसुमवत होती है इसके पूरे होने की संभावना लगभग नहीं के बराबर होती है। इतना ही नहीं जो लोग इन शिक्षाओं से प्रभावित हो स्वयं को थोड़ा बहुत बदल भी लेते हैं वे इस उदारीकृत अर्थव्यवस्था के प्रतिद्वन्द्विता केन्द्रित वातावरण में अयोग्य साबित होकर हाशिये की ओर धकेल दिये जाते हैं । उन्हें दी गई मूल्यों की शिक्षा उनके लिए जानलेवा बन जाती है।

बाजार की मांग की पूर्ति के लिये दी जा रही हमारी शिक्षा दिन प्रतिदिन व्यवसायोन्मुख हो रही है। छात्र उन्हीं पाठ्यक्रमों में प्रवेश लेना चाहते हैं जिनसे उनके जीवन का निर्वाह हो सके, वे किसी व्यवसाय में लग सकें या नौकरी कर सकें। व्यक्तित्व निर्माण या ज्ञान प्राप्ति जैसे शिक्षा के उद्देश्य अब उन्हें आकर्षित नहीं करते। इसलिए जिन विषयों को पढ़ने से उन्हें भविष्य सुरक्षित दिखाई देता है उधर ही वे चल पडते हैं । परिणाम: व्यावसायिक प्रबन्धन या सूचना प्रोद्योगिकी की ओर जितनी भीड़ जा रही है उसके वनिस्पत दर्शन, समाज शास्त्र, संस्कृत तथा इतिहास आदि विषयों की कक्षाएं बहुत कम छात्रों के भरोस चल रही हैं । इन व्यवसायोन्मुख पाठ्यक्रमों में मूल्यों की शिक्षा का कोई प्रावधान नहीं हैं । आम धारणा यह बना दी गई है कि युद्ध, प्रेम और व्यापार में सब कुछ जायज होता है । बाजार की मांग के अनुरूप दी जाने वाली शिक्षा में नैतिक मूल्यों का क्या स्थान होता है इसे हाल ही में प्रकाशित एक उपन्यास के इन संवादों में बखूबी देखा जा सकता है। अभिषेक कहता है - ''ओ शिट । सीधा सादा एक प्रोडक्ट बेचना है । इसमें तुम नैतिकता और सच्चाई जैसे भारी भरकम सवाल मेरे सिर पर दे मार रही हो । मैंने आई. आई. एम. में दो साल भाड नहीं झोंका है। वहां से मार्केटिंग सीख कर निकला हूं । आई कैन सैल ए डैड रैट। यह सच्चाई, नैतिकता सब मैं दर्जा चार तक मॉरल साइंस में पढ़कर भूल चुका हूं ।'' पवन की राय है - ''दरअसल, बाजार के अर्थशास्त्र में नैतिकता जैसा शब्द लाकर, राजुल तुम सिर्फ कन्फ्यूजन फैला रही हो । मैंने अब तक कोई पांच सौ किताबें तो मैनेजमैन्ट और मार्केटिंग पर पढ़ी होंगी। उनमें नैतिकता पर कोई चैप्टर नहीं है।''

यह संवाद महज काल्पनिक हो और इसका वर्तमान के यथार्थ से कोई संबंध न हो, ऐसा नही है । जो लोग कार्पोरेट व्यवस्था के अंग हैं या नजदीक से इसे जानते हैं वे इसकी सचाई को झुठला नहीं सकते।

हम पहले ही बता चुके हैं कि ज्ञान का विखंडन हितकर नहीं है । ज्ञान की किसी एक शाखा की उपशाखा का विशेषज्ञ बन आप काम तो चला सकते हैं, पैसा भी कमा सकते हैं और ख्याति भी पा सकते हैं पर कोई ऐसा योगदान नहीं दे सकते जिससे आने वाली पीढियां आपको याद रख सकें । महात्मा गांधी तो बेरिस्टर बनने गये थे, नियमानुसार उन्हें कानून का विशेषज्ञ बनना चाहिये था । लेकिन वे एक ऐसे बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी बने जिसमें अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र, शिक्षा शास्त्र, राजनीति, आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा और अनेकों धर्मों तथा विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान का आत्मसातीकरण था।

इसलिए आज शिक्षा में मूल्यों की स्थापना के सवाल पर विचार करने से पहले हमें इस मांग को उठाने वाले तथा इसके लिये योजना बनाने और इसकी क्रियान्विति के लिए कार्यशाला या प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करने वाले लोगों की मनोभावना को जान लेना जरूरी है। इसके बाद ही हम यह फैसला करने की स्थिति में पहुंच सकते हैं कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में ही कुछ फेरबदल (पेचवर्क) कर इसे काम लायक बना लिया जाये या अपने देश की संस्कृति-जीवन दर्शन के मूल्यों पर आधारित अपने समाज और व्यवस्था के लिये सार्थक शिक्षा विधि का निर्माण किया जाये । पहला काम जितना आसान है दूसरा उतना ही कठिन है । क्योंकि ऐसा करने से समाज के 20 प्रतिशत सुविधाभोगी लोगों के हितों पर तो चोट पहुंचेगी ही वैश्विक अर्थव्यवस्था की उपभोग प्रधान विकास की अवधारणा के लिये भी यह चुनौती साबित होगी । यह लड़ाई देश के ८० प्रतिशत साधन-सुविधाविहीन किन्तु संकल्पबद्ध जनशक्ति तथा शेष लोगों के बीच होगी ओर इसके परिणाम न केवल इस देश के लिये उपयोगी होंगे बल्कि सारी दुनिया के लिए अनुकरणीय उदाहरण बनकर सामने आयेंगे । ◆